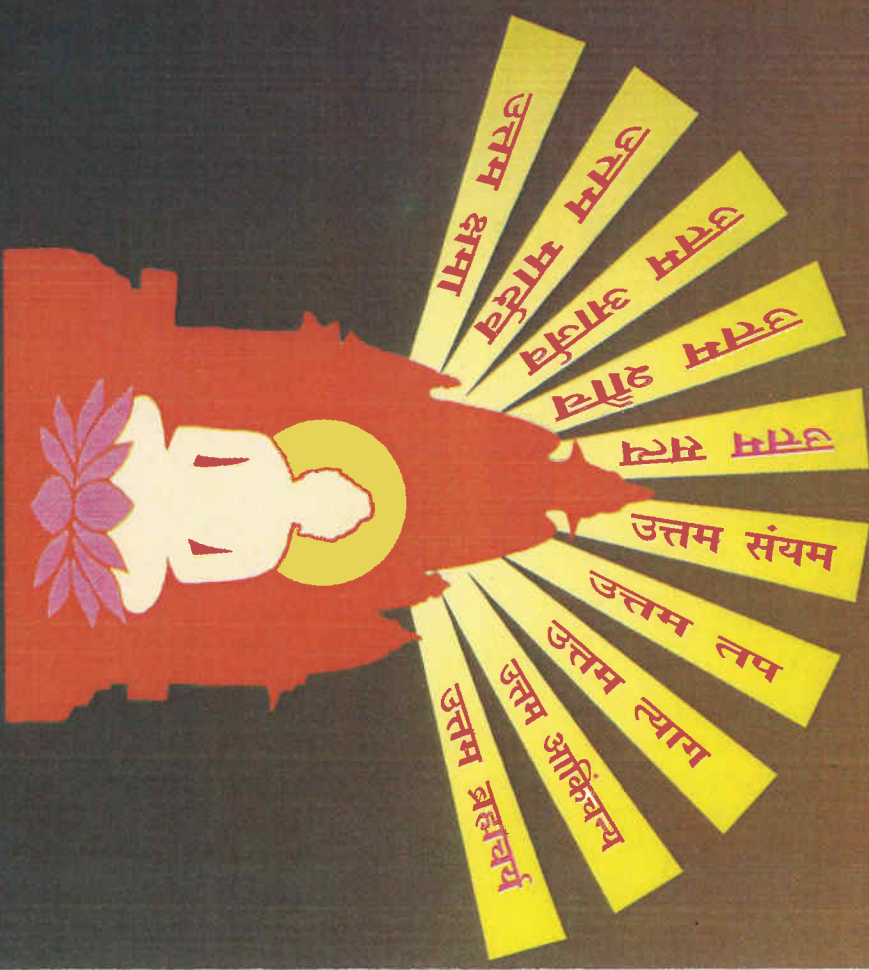


मानव धर्म प्रकाशा

[दशलक्षणा धर्म महापर्व विवेचना]



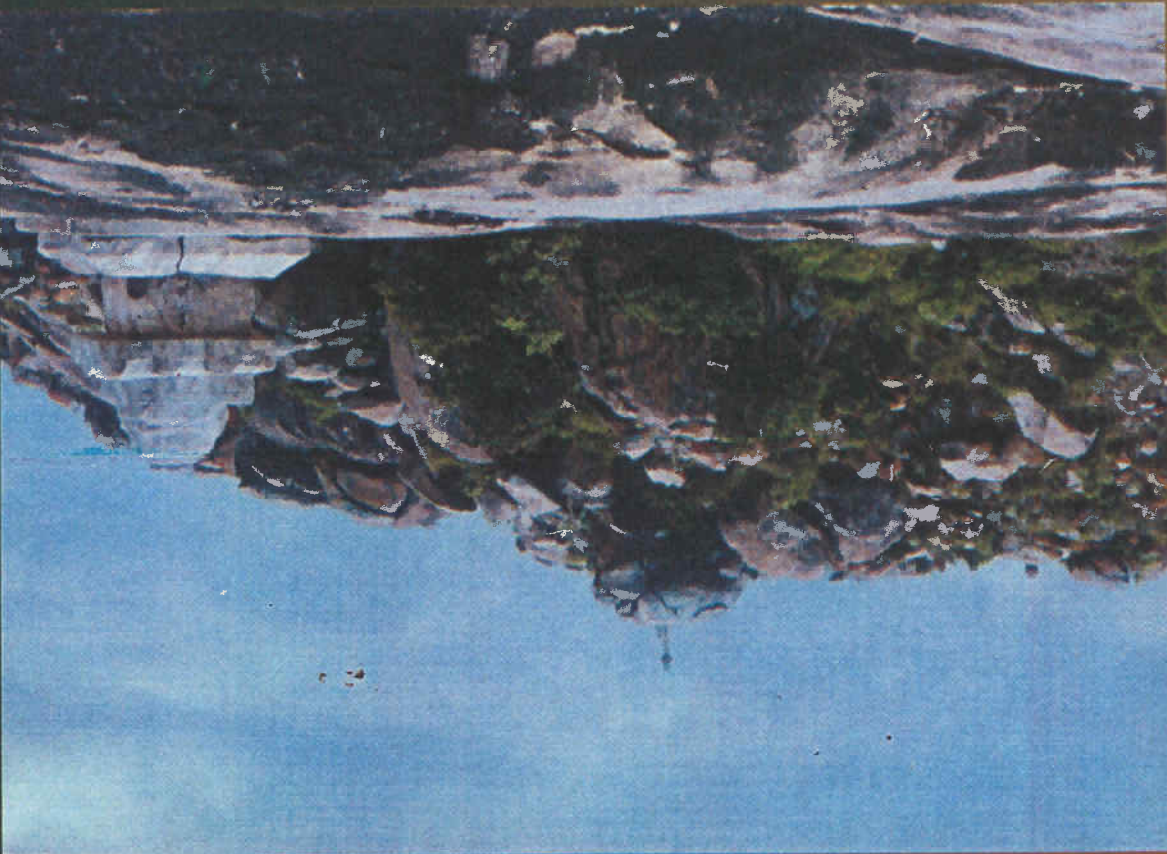
लेखक व संपादक - आदिनागर वर्णी

श्री क्षेत्र कनकगिरी जैन मठ

प्रकाशक - कनकगिरी प्रकाशन,

श्री क्षेत्र कनकगिरी (मलेयूरु) ता. चाभराजनागर (मैसूरु)

श्री क्षेत्र कनकगिरी



दशलक्षण धर्म का प्रथम अंग है -

उत्तम क्षमा

रोसेण माहाधम्मो णासिञ्ज तणं च अग्निणा सव्वे।

पावं च करिञ्ज महं बहुगं पि णरेण खमिदव्वं । १

जिस प्रकार अग्नि के एक चिनगारी से ढेर सारा तृण नष्ट होजाता है उसी प्रकार दुर्लभ से प्राप्त हुआ धर्म क्रोध के निमित्त से क्षणभर मे नष्ट होजाता है। तथा अनेक भर्वाँ तक दुःख देने वाला पाप का बन्ध कराता है। इस लिए सज्जन को चाहिए कि वे हमेशा अपने चित्तमे क्षमा भाव धारण करे।।

यह क्रोधरूपी अग्नि आज्ञान रूपी क्रष्ट से उत्पन्न होती है, और वह अपमानरूपी वायु से भड़क उठती है। कठोर वचन ही उस के चिनगरियां है। हिसा - रक्त पात उसकी लाल लाल लपटें हैं। और अत्यन्त उग्र वैर का होना उसका धूम है। ऐसे भयानक क्रोध को शान्त करने के लिए केवल क्षमा को नहीं किन्तु "उत्तम" क्षमा धारण करना परमावश्यक है। जैसा कि हर मनुष्य बर्जार मे कुछ खरीदि करने जाता है तो उसकी भावना उत्तम से उत्तम वस्तु खरीद ने की होती है। हर व्यक्ति उत्तम वस्तु का उपभोग करके आनन्द लूटना चाहता है। उसी प्रकार यदि हम आध्यात्मिक आनन्द उठाना चाहते है। तो क्षमा धर्म को "उत्तम" विशेषण के साथ उपयोग करने के लिए हमारे आचार्य / पूज्य पुरुषोंने कहा है।

"उत्तम क्षमा -मार्दवार्जव -शौच -सत्य -संयम -तपस्यागाकिकेचन्य - ब्रह्मचर्याणि- धर्मः" (तत्त्वार्थ सूत्र, 9/6) = हमरी / क्षमा - सरलता - निर्लोभ - सत्य - संयम - तथा -त्याग - आकिकेचन्य -तथा ब्रह्मचर्य, ये दसों

ही यदि स्वार्थ रहित और सम्यक्त्व पूर्वक हों तो ही उत्तम कहलायेंगे, ऐसे उत्तम क्षमा आदि को ही यहां पर धर्म के नाम से कहा जा रहा है। ये दश धर्म आत्मा के ही गुण होने से प्रत्येक जीव में उसका अस्तित्व हमेशा पाया जाता है। किन्तु ये स्वाभाविक गुण, पर के निमित्त से और अज्ञान के कारण से संसारी जीवों में विभक्तरूप परिणमते हैं। जैसे - अग्नि के निमित्त पाकर जल अपनी शीतल स्वभाव को छोड़ कर उष्ण रूप में परिणमन करता है। और जब अग्नि का संयोग जल से अलग किया जाता है तब वह कुछ ही समय में अपने शीतल स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा ज्ञानावरणानि आठ कर्मों के संयोग वश से अपने उत्तम क्षमादि दशधर्मों को छोड़कर क्रोध-मान-माया-लोभादिरूप होकर परिणमन करता रहता है।

इन क्रोध-मान-माया व लोभ के विषय में न केवल धर्म शास्त्रों में ही नहीं अपितु ज्योतिष शास्त्र व आयुर्वेद शास्त्र में भी अपने ढंग से वर्णन किया है। आयुर्वेद शास्त्र के एक प्रोफेसर ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि - "पित्तप्रकृतिवाला व्यक्ति क्रोध स्वभाव का, वातप्रकृतिवाला व्यक्ति अधिक मान कषायी, कफ प्रकृतिवाला व्यक्ति अधिक लोभी और जहां तीनों की विषमता होगी वहां मायाचारी अधिक होगी यह आयुर्वेद शास्त्रका विचार एक स्थूल दृष्टिकोन से कहनाया है। ज्योतिष शास्त्र का कहना है कि - क्रोध की अधिकता मंगलग्रह की प्रभाव से, मान कषाय की अधिकता सूर्यग्रह की प्रभावसे, शनिग्रह की प्रभाव से मायोचार की अधिकता, और राहुग्रह के प्रभावसे लोभ की अधिकता हुआ करती है। यह भी एक स्थूल दृष्टिकोन से ही कहा जा सकता है।

किन्तु जैनाचार्यों का कहना कुछ इससे भिन्न और सूक्ष्म दृष्टिकोन रहा है। वे कहते हैं - मिथ्यात्व - गुणस्थानवर्ती जीवों के ही विशेषतः क्रोध - मान - माया और लोभ की प्रवृत्ती अधिक हुआ करती है। अनन्तानुबन्धी

क्रोध-मान-माया-और लोभ के कारण यह जीव अनन्त काल से इस संसार बन्धन में पड़ा हुआ है, अपने ही अज्ञान के कारण पर वस्तुओं के प्राप्ति मोह-ममता करता रहता है, इसी कारण वश अपना अनन्त सुख और शक्ति को खो बैठा है।

यहां पर यह शंका हो जाती है कि अनन्त सुख और शक्ति वाली यह आत्मा कैसे बन्धन में पड़ गया? हम कैसे माने कि आत्मा अनन्त शक्ति शाली है? "इस प्रश्न के उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि "तीन लोक के अन्दर-नर - नारकादि जितने भी पर्याय हैं उन अनन्त पर्यायों में जन्म-मरण रूप परिभ्रमण करते रहने पर भी इस आत्मा की वह देखने - जानने रूप चैतन्य शक्ति नष्ट न होकर आजतक शाश्वत ही रही है। इसी से यह सिद्ध होता है की आत्म-वस्तु अनन्त शक्ति शाली है। यदि यह आत्मा अनन्त शक्ति शाली नहीं होता तो इन अनेक-अनन्त पर्यायों में उसका चैतन्य शक्ति नष्ट हो जाती। नर-नारकादि पंचपरारवर्तनरूप इतने परिभ्रमण के पश्चात् भी अपना-अस्तित्व-यथावत् बनाये रखा है।

जितने अधिक धर्मग्रन्थ भारत में रचे गये, उतने अधिक अन्यत्र कहीं नहीं रचे गये। अन्य देशों में केवल एक-एक ग्रन्थ ही रचे गये। जब कोई पुत्र कुसंगति में पड़कर अधिक बिगड़ जाता है तो पिता उसे बार-बार, तरह-तरह से समझाते हैं। यही बात इस दशलक्षण धर्म के विषय में भी लागू होता है। आचार्य गुरुदेव अखंड एक धर्म को दशधर्म कहकर दस तरह से बार-बार समझनेकी सत्ययास किया है।

"क्रोधाभावे क्षमा" क्षमा अर्थात् क्रोधका सर्वथा अभाव। इस क्षमा भाव की प्राप्ति शास्त्र ग्रन्थों से नहीं होगी। इसे शास्त्रों में नहीं खोजना। शास्त्र तो दर्पण के समान है। दर्पण में मुख पर तंगा कालुष्य/दाग दिख जाता है, पर उसको मिटाना स्वयं को होता है। दर्पण के सामने कालुष्य को "यह दाग" है "ऐसा कहने से वह दाग नहीं मिटता। मिटाने का

उपक्रम करने से मिटता है। धर्म की प्रप्ति में शास्त्र हमारे लिए साधन है। उसका खोज आत्मा में आत्मा के द्वारा होगा। हमारे महा पुरुष जितने भी हुए हैं। वे धर्म को शास्त्रों में नहीं खोजा किन्तु गिरि कन्धरादि निर्जन वनोंमें रहकर अपनी आत्मा के अंदर खोज निकाला। बुद्ध -माहावीर - राम -रहीम आदि सभी महापुरुषों ने अपनी ही आत्मा में खोजा - देवात्वानुभव किया फिर बाद में अपने शिष्यों को बताया।

एक बार गुरु और शिष्य दोनों यात्रा के लिए निकले, चलते चलते शाम हो गई। ध्यान -सामाहक समय हो गया। एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। चारों ओर भयानक जंगल था। वहां ध्यान में बैठे ही थे कि -शिष्य की दृष्टि उस घने जंगल में से आते हुए एक सिंह पर पड़ी। शिष्य घबराया कि अब-बचना संभव नहीं है। गुरु जी को पुकारकर कहा भी, किन्तु गुरु परमात्मा के ध्यान में तल्लीन थे। शिष्य चुप चाप उठा और धीरे से पेड़ पर चढ़कर ऊँचे जा बैठा। और देखता रहा कि -वह सिंह सीढ़ा गुरु के निकट आया इधर उधर देखा -सूंघा चक्कर भी लगाया, लेकिन कुछ भी किये बिना वापस चला गया। शिष्य तो थर थर कांपने लगा था, पता नहीं क्या होने वाला है। जब सिंह वहां से दूर चला गया, तब दीर्घ श्वास लेकर वह नीचे उतरा और गुरुजी के चरणों में प्रणाम कर बैठ गया।

थोड़ी देर बाद जब गुरु जी ध्यान से उठ कर शिष्य से कहा अब चलो। यात्रा बहुत बाकी है। तब शिष्य आश्चर्य हो कर कहने लगा कि -गुरुजी आज तो हम दोनों का बड़ा ही भाग्योदय था। बच गये। एक सिंह आया था और बिलकुल आपके पास तक आया था। आप को सूंघ भी लिया था। क्या आपको मालूम नहीं है? गुरु ने कहा, नहीं। मुझे नहीं मालूम। अब तो शिष्य और अर्चबे में पड़गया और वह श्रद्धा से भरकर गुरु के पैरों में गिर पड़ा, कहने लगा - धन्य है गुरुवर आपकी महिमा,

आपका धैर्य, आपकी -दृढ़ता। गुरुजी ने अपनी प्रशंसा सुनकर मानों अनसुनी कर दी और कहा चलो -चलो अबी यात्रा करना बहुत बाकी है। दोनों फिर यात्रा पर बढ गये। थोड़ी दूर चलने के उपरान्त एक घाटी में से गुजरते समय कुछ मधुमक्खियां आने लगीं और गुरुजी को एक दो स्थान पर काट लिया। गुरुजी तुरंत पीड़ा से कराहते लगे और आगे बढ नहीं पाये वही बैठ गये। कहने लगे अब चलना मेरेसे नहीं होगा।

शिष्य बड़ी दुविधा में पढ गया कि -आखिर बात क्या है? उसने तुरंत पूछा, गुरुजी, अभी तो सिंहके आजाने पर आप बिलकुल विचलित नहीं हुए थे और अब इतनी छोटी सी मधुमक्खियों से विचलित कैसे होगये। कुछ समझ में नहीं आया। गुरुजी मुस्कराये और बोले -उस समय जब सिंह आया था तब मेरे साथ -मेरे मन में केवल भगवान थे, मैं उन्ही में लीन था। विचलित या भयभीत होने की बात ही नहीं थी, लेकिन -अब तो तुम मेरे साथ हो, अतः बहिरंग दृष्टि में भय होना स्वाभाविक है। इसी को सत् संगती का फल कहा जाता है।

बात आप के समझ में आ रही होगी। यदि धर्म का सेवन हम बाह्य विषयों का विमोचन किये बिना करेंगे तो उसका सही स्वाद (अनुभव) नहीं आयेगा, शान्ति और तृप्ति नहीं मिलेगी। कम से कम धर्म को अंगी-कार करने से पहले विषयों के प्रति राग भाव तो गौण होना ही चाहिए। किसी भी देशकी संस्कृति, धर्म के बिना महान नहीं बन सकता। अतः उत्तम क्षमादि दश धर्मों का पालन करना भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का देन विशेष अधिक है। भगवान वृषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्ती और बाहुबली जैसे महान् अहिंसक -आदर्श राज पुरुष हुए। जिन के जीवन चरित्र से हमें दशधर्मों का बोध प्राप्त होता है। हजारों वर्षों से आज भी हमें दशधर्मों का मौन उपदेश देते हुए विश्वविख्यात श्री गोमटेश्वर भाहुबली के रूपमें श्रवणबेलगोल में प्रत्यक्ष में हमारे सामने खड़े हैं।

उनके शरीर में लिपटी हुई वह माधवी लता ही दश दर्मों का चिन्ह है। जो भी विद्वान-विदेशी पर्यटक इसे प्रथम बार देखेगा वह अवश्य ही कुछ समयतक बाह्य प्रपंच को और अपने आप को भी भूलकर उस वीतराग मुद्रा के नीरीक्षण में, उस दश धर्म के स्वरुपावालीकन में मग्न हो जाता है।

बात यह है कि वीतरागरूप दश धर्म को सुनने से पूर्व उसके योग्य पात्रता बनाना भी आवश्यक है। जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही रकता है, उसी प्रकार वीतराग धर्म का श्रवण करके उसे धारण करने की क्षमता भी सभी में नहीं हुआ करती। उस के लिए भावों की भूमि में थोड़ा सा दया व विरक्ति का भीगापन-आद्रता का होना आत्यन्त आवश्यक है। जिससे वितरागता के प्रति आस्था और उत्साह जागृत हो सके। चारों तरफ भोगोप भोग की सामग्री होते हुए भी इस काया के द्वारा उस माया को गौण करके भीतरी आत्मा को पहचानने और शरीर से भिन्न उसे देखने के लिए दश लक्षण धर्म को सुनना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उसे प्राप्त करना भी अनिवार्य है।

जीवन के एक एक क्षण उत्तम क्षमा के साथ निकले। एक एक क्षण मार्दव के साथ विनय अनुनय के साथ निकले। एक एक सांस हमारी वक्रता के अभाव में चले। ऋजुता और शुचिता के साथ चले, पूरा जीवन ही दश धर्म मय हो जाये। दश धर्म की व्याख्या तो कोई भी सुन सकता है, पढ़ सकता है, लेकिन धर्म का वास्तविक दर्शन और अनुभव तो सर्व संग त्याग में ही यति अपरिग्रही को ही संभव है। उसका प्रतिफल रूप मुक्ति भी हमेशा अपरिग्रह के साथ संभव है। जो व्यक्ति दश धर्म के श्रवण और दर्शन के माध्यम से एक समय के लिए भी जीवन में धर्म के प्रति संकल्पित होता है, उत्तम क्षमा धारण करने का भाव जगृत करता है, तो उसका वह भाव ही उसके लिए भूमिका का काम अवश्य करेगा।

रावण ने एक बार मुनि महाराज के मुख से धर्म श्रवण किया। उसके साथी भी साथ में थे। जब अंत में सभी ने एक-एक करके मुनि महाराज से कुछ न कुछ व्रत लिए तब चारण ऋद्धि धारी उन मुनिराज ने रावण को कहा कि हे त्रिबुंडाधिपति रावण तुम तो महान बलशाली हो। कौन सा व्रत लते हो? ते तो। तब रावण ने कहा कि महाराज आज मुझे अपने से बढ़कर कोई कमजोर/बलहीन नहीं लग रहा है। आप से अपनी कमजोरी कैसे कहूँ? एक छोटा सा व्रत भी मेरे लिए पालन करना कठिन लगता है। इतना ही कर सकता हूँ कि, जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी उसके साथ संबंध के लिए मैं जबरदस्ती से बाध्य नहीं करूँगा, यही मेरा व्रत रहेगा।

रावण ने सोचा था कि ऐसी कोई स्त्री नहीं होगी दुनियामें, जो मुझे नहीं चाहेगी। पर यह बात सारी दुनिया को भी ज्ञात है कि इस एक छोटासा व्रतने उसे बहुत अच्छी शिक्षा दिलाई। सीता का हरण तो कर लिया लेकिन सीता को बाध्य नहीं कर सका। उसने जीवन को थोड़ा बहुत संस्कारित तो अवश्य किया। वैसे ही हमें भी व्रतों को अंगीकार करके स्वयं को संस्कारित करना चाहिए और व्रतियों को देख कर व्रतों के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। सभी को व्रत-नियम-संयम के प्रति प्रोत्साहित भी करना -कराना चाहिए।

बन्धुओं! यदि एक बार शान्ति के साथ आप विषयों को गौण करके थोड़ा सा विचार करें तो अपने आप ज्ञान होने लग जायेगा कि हमारा धर्म क्या है? हमारा स्वभाव क्या है? हमें विषय-कषायों की संगती नहीं करना है। हमें करना है विरागी देव-गुरु-शस्त्र की संगती, ताकि हमें धर्म का वास्तविक स्वरुप समझ में आ सके।

हमें क्षमा की जानकारी रखने, उस पर श्रद्धा रखने और अपने शक्ति के अनुसार क्षमाधर्म को जीवन में उतार ने का प्रयत्न करना

उत्तम क्षमा चाहिए। संसार में कोई भी कार्य एकदम नहीं होता। हर चीज का एक अपना विकास क्रम होता है, क्षमा धर्म का भी अपना विकास, क्रम आगम में बताया है -

"दंसण -वय-सामार्दय- पोसह - सचित रायभनेय।

वंगसंभ -परिणह -अनुमण मुद्दि देस विरदो य ॥" (प्रतिक्रमण पाठ)

- दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचितत्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा, और उद्विष्टत्याग प्रतिमा ।। इन ग्यरह प्रतिमाओं को अपने शक्ति अनुसार जब श्रावक धारण करते हैं तब उत्तम क्षमा आदि दश धर्म का विकास भी क्रमसे होने लगता है। कोई एक मिथ्यादृष्टि किसी के अपराध को क्षमा करदे तो वह क्षमा उत्तम न होने से मोक्ष का कारण नहीं बनता। गुणस्थान क्रममें उत्तम क्षमा का आंशिक प्रारंभ - चौथा-गुणस्थान से होता है। और 13 वें गुणस्थान के अंत में वह पूर्ण होजाता है।

आज का दिन बहुत पवित्र है, महत्वपूर्ण है। हम सब उत्तम क्षमा प्राप्त करने योग्य बने। उसे प्राप्त करने का प्रयास करते रहे। जानकारी करते रहे, और एक दिन उसे पूर्ण रूप से प्राप्त भी करलेवे। आचार्य कहते हैं कि जानकारी के द्वारा ही लाभकारी बनते हैं। कहा भी है।

तत्प्राति प्रीतिचितेन, येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम् ॥

-किया तो कुछ भी नहीं किन्तु यदि रुचि व श्रद्धापूर्वक आत्मा व परमात्मा की चर्चा सुनी है तो आप निश्चित रूप से भव्य हैं। भविष्य में आप मोक्ष प्राप्त करने योग्य हैं।

आज का उत्तम क्षमा धर्मारोधान का जाप्य मन्त्र इस प्रकार है -
ओं हीं उत्तम क्षमाधर्माणाय नमः॥ ।

ॐ ॐ ॐ

8

दशलक्षण धर्म का दूसरा अंग है -

उत्तम मार्दव

आठ प्रकार का 'मृद' नहीं करना "मार्दव" धर्म है । यह उत्तम "मार्दव" हमारे धर्म महल में प्रवेश करने का दूसरा दरवाजा है। इस दरवाजे को खोलने के लिए मानव को कुछ कष्ट सा मालूम होगा । क्योंकि यह मानव, जन्म से ही मान कषाय का उदय को लेकर आता है, ऐसा कर्म सिद्धांत में बताया गया है । अतः एक छोटा बालक भी अपमान सहन करने को तयार नहीं होता, यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। (मृद आठ ही किसी माध्यम को लेकर यह मानव मृद करने लगता है ।) (मृद आठ ही नहीं, बहुत से हैं । किन्तु मुख्य रूप से यहाँ पर आठ ही मिलाया गया है।)

ज्ञानं-पूजां-कुलं-जाति-बलमृद्धि-तपो-वपुः ।

आष्टवाश्रित्य मानित्वं-स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ (र.क. श्रावकाचार श्लो 25)

(अर्थात् ज्ञान मृद-पूजा मृद (प्रभुत्व या पूज्यता का मृद) कुल मृद - जातिमृद - बलमृद (धनादि ऐश्वर्य) ऋद्धिमृद-तपमृद-तथा शरीरमृद । ये आठ मृद एक साथ एक ही व्यक्ति में नहीं हो सकते, किन्तु अलग अलग व्यक्ति में उनके अवश्याकानुसार हुआ करते हैं ।)

(एक जगह पर आचार्य जिनसेन स्वामी ने महापुराण में लिखा है कि ज्ञानमृद करना तो अपने ही ज्ञान पर आवरण करना है । उस पर एक प्रकार अज्ञानका परदा डालना है ।) महा कवि भर्तृहरि ने एक स्थान पर लिखा है कि जब मुझे अल्पज्ञान था, तब मैं हाथी की भांति गर्वोन्मत्त होकर चलता था; और जब मैं धीरे धीरे अधिक जानने लगा, तब चींटी की भांति चलने लगा ।

9

उत्तम मार्दव
 (संसार में अनेक प्रकार के मद हैं। मद उत्पन्न न होने देना ही मुहुता है, यही उत्तम मार्दव धर्म है। आटा जितना बारीक पीसा जाता है, रोटी उत्तनी ही मृदु-मुलायम बनती है। इसी प्रकार हमारे भाव जितना अधिक मृदु होंगे, उतना ही मार्दव धर्म उत्तम बनेगा। क्रोध को त्याग कर क्षमा धारण करते ही यह मार्दवधर्म आत्मा में सहज ही प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपक को जलाते ही प्रकाश आता है, धर्म ध्यान का शुल्वात भी इसी मार्दव धर्म से होता है। आचार्य श्री कुंदकुंद जी ने अष्टपाहुड में एक जगह लिखा है कि - "धम्मो दया विसुद्धो" दया से विशुद्ध ही धर्म होता है और वह दया मार्दव ये सब एकार्थ वाची शब्द हैं, इन के द्वारा ही धर्म का पहचान होता है।

(हम पूछते हैं कि आपको अनन्त सुख चाहिये या क्षणिक सुख ? तो कोई भी कह देगा कि हमें अनन्त सुख चाहिये। लेकिन अनन्त सुख की प्राप्ति तो अपने आत्म स्वरूप की ओर, अपने मार्दव धर्म की ओर प्रयाण करने से होगी। अभी तो हम अपनी स्वभाव की नहीं, किन्तु विभाव की प्राप्ति में यानि सांसारिक क्षणिक सुख प्राप्ति में ही अभिमान कर रहे हैं। जब की वह हमेशा पराधीन और छुटनेवाला है। और हम जानते भी हैं कि यह इन्द्रिय सुख नश्वर, क्षणिक है। किन्तु करें क्या, वह मोह रूपी मदिरा की नशामें हम इधर-उधर संसार में झूलते जा रहे हैं। जो व्यक्ति इस इन्द्रिय सुख और इन्द्रिय ज्ञान में आसक्त नहीं होता, वह नियम से अतीन्द्रिय अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान को बहुत कम समय में प्राप्त कर लेता है।)

"मनोरपत्यं मानवः" कहा गया है कि, मानव सब मनुके संतान हैं। जैन साहित्य में मनुको कुलकर माना है। जो मानवों को एक कुल की

उत्तम मार्दव
 एक परिवार की) भांति एक साथ मिल के रहने का उपदेश देता है।
 1) वही कुलकर है। सभी समान भाव से रहें। छोटे बड़े का भेद भाव न आवे तभी मानव होने में सार्थकता है। अपने मन को वशमे करने वाले ही महात्मा माने गये हैं। मन को वशमें करने का अर्थ मनको दबाना नहीं है, बलकी मनको समझाना है। मन को दबाने और समझाने में बहुत बड़ा अंतर है। दबाने से तो मन और अधिक तनाव-ग्रस्त हो जाता है, अत्यधिक विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु मन को यदि समझाया जाये तो वह शांत होने लगता है। मन को समझाना, उसे प्रशिक्षित करना, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की ओर लेजाना ही वास्तवमें, मनको अपने वश में करना है। जिसका मन संवेग, वैराग्य, अनुकंपा और आस्था (श्रद्धा) से भरा है वही इस संसार से पार हो पाता है। जैसे घोड़े को लगाम हो तो वह-सीधा अपने गंतव्य (लक्ष) तक पहुंच जाता है। ऐसे ही मन को भी यदि वैराग्य की लगाम हो तो वह सीधा अपने गंतव्य यानि मोक्ष तक आत्मा को ले जाने में सहायक बनता है।)

सुभी दश धर्म आपस में इतने अनन्यता से जुड़े हुए हैं कि अलग-अलग होकर भी संबंधित हैं। मार्दव धर्म के अभावमें क्षमा धर्म रह पाना संभव नहीं है। क्षमा धर्म के अभाव में मार्दव धर्म टिकता नहीं है। मान-सम्मान की आकांक्षा पूरी नहीं होने पर ही तो क्रोध-उत्पन्न हो जाता है। या यों कहना चाहिये कि जहां भी शोडासा अपमान देखा जाता है वहां तुरंत क्रोध का झलक देखने में आता है। मुहुता (मार्दव) के अभाव में छोटीसी बात से मन को ठेस पहुंचता है और तुरंत मान कषाय जागृत हो जाता है। जब मान जागृत होता है तो क्रोध की अग्नि भडकने में देर नहीं लगती।)

एक घटना याद आ रही है, जो कि भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर के समय की है - द्वीपायन नाम के मुनि, रत्नत्रय (महाव्रत) धारण किये हुए थे। वर्षों की तपस्या साथ थी। उस तपस्या का फल, यदि चाहते तो उपकारी भी बन सकता था, किन्तु वह देवता निर्मित द्वारिका पट्टण को जलाने में निमित्त बन गया। भ. श्रीनेमिनाथ के द्विव्य वाणी के माध्यम से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरे निमित्त से बारह वर्ष के बाद द्वारिका जलेगी तो यह सोचकर वे द्वारिका से बहुत दूर चले गये कि कम से कम बारह वर्ष तक अपने को द्वारिका की ओर जाना ही नहीं है। समय बीतता गया - बारह वर्ष बीत गये होंगे - ऐसा सोचकर वे विहार करते हुए द्वारिका के समीप एक बगीचें में आकर ध्यान मग्न हो गये। वहीं यादव लोग आये और द्वारिका के बाहर फेंकी गई शराब को पानी समझ कर पीने लगे। मदिरापान का परिणाम यह हुआ कि यादव लोग नशे में पाला होकर द्वीपायन मुनि को देखकर गालियां देने लगे, पत्थर फेंकने लगे। जब बहुत देर तक यह उपसर्ग चलती रही और द्वीपायन मुनि को सहन नहीं हुआ तो तैजस ऋद्धि शक्ति के प्रभाव से द्वारिका जल कर राख हो गई। तब तो सहन कर सकता था कष्ट को-लेकिन मन सहन नहीं कर सका और क्रोध जागृत हो गया। दिल कठोर बन गया और करोड़ों पशु-पक्षी-मनुष्य सब जलकर भस्म हो गये। दो चार व्यक्तियों के गलती ने अनेकों जीवों को मौत के घाट उतारा।

एक बात और है कि सभी कषायों परस्पर एक दूसरे के लिए कारण भी बन जाते हैं। जैसे मान को ठेस पहुंचती है तो क्रोध आता है। मायाचारी आ जाती है। मान की सुरक्षा का लोभ भी आजाता है। मान भंग का भय पकड़लेता है। ये सारी बातें मार्दव धर्म के अभाव के कारण होने लगते हैं। आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि - यह सब

["पञ्चय मूढा हि पर समयः"] पर्याय मूढता से होता है, और यही परसमय है। पर्याय का ज्ञान होना बाधक नहीं, परंतु उसमें मूढ-मुग्ध हो जाना बाधक है। पर्याय बुद्धि ही मान को पैदा करता है। पर्याय बुद्धि के कारण ही द्वीपायन के मन में आया कि, ये मेरे ऊपर पत्थर बरसा कर उपद्रव दे रहे हैं। मुझे गालियां दी जा रही हैं। बस, वह अंदर की दृष्टि बाहर आ गई, मान जागृत हो गया।

जो अपने आप में स्थिर-स्वस्थ है उन्हें पर्याय बुद्धि नहीं आ सकती, उसे कोई गाली दे तो वह सोचेगा कि - अच्छा हुआ अपनी परख करने का अवसर मिल गया। मालूम होगा कि - कितना मान कषाय अभी भीतर शेष है। वह ज्ञानी यह सोचता है कि दूसरे के निमित्त से मैं अपने परिणामों को क्यों बिगाड़ूं? कठोरता और मुद्दता की उत्पत्ति मन के द्वारा ही होता है। इसलिए कहा है कि धर्म - अदर्म सब मन में है, बाहर नहीं।

"धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद् न हन्तुरपि पश्यतेऽपितस्मिन् ।

दृष्ट्वा परस्पर-हर्तिर्जनकालजानां रक्षा ततऽथ्य जगतः खलु धर्म एव॥"

(समस्त विश्व की रक्षा हेतु धर्म की आवश्यकता है। वह धर्म कहीं है? वह धर्म कहीं अन्यत्र नहीं किन्तु अपने ही मन में है।) उपरोक्त श्लोक में आचार्य गुणभद्रस्वामी ने आत्मनुशासन ग्रन्थ में यह बात स्पष्ट किया है कि जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मारनेवाले को भी नहीं मारता, किंतु जब धर्म उसके दिल व दिमाग से निकल जाता है तब औरों को ही नहीं अपने प्रिय पुत्र को भी मार डालता है और धर्म के अभाव में ही पुत्र पिता को भी मार डालता है। ऐसे घटनायें प्रति दिन पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलते भी हैं। यह सब मन

उत्तम मार्दव
से धर्म निकल जाने से, समाप्त हो जाने से ही होता है । अतः धर्म न कहीं जंगल में है न महल मन्दिरों में । वह तो अपने ही भीतर-मनके अंदर रहता है । धर्म का हो या अधर्मका सभी कार्य मनके इसारे पर ही हुआ करते हैं ।

यह मनुष्य जब तक मान कषाय के पर्वत शिखर पर चढा रहता है, तब तक उसके मन में बड़ों के प्रति विनय भाव जागृत नहीं हो सकता । और विनय के बिना समस्त व्रत-जप-तप-त्याग निष्फल हो जाते हैं ।

"विनयेन विहीनस्य व्रतशील पुरस्साराः ।
निष्फलाः संति निःशेषा गुणवतां मताः॥"

(मान का विरोधी विनय है । विनय का विरोधी मान है । बड़ों का विनय/समादर करना ही स्वाभिमान है । और न करना दुरभिमान है) शिक्षा हीन साधु का वेष नट के समान केवल आत्म विडंबना है, और विनय हीन मनुष्य की शिक्षा दुर्जन की मित्रता के समान दुःखदाई है ।

"क्रोध मानादयो दोषाः छिद्यन्ते येन वैरदाः ।
न वैरिणो विनीतस्य तस्यसंति कथंचन"

अर्थात् - जिसके द्वारा वैरत्वादि देनेवाले क्रोध-मानादि दोषों को नष्ट किये जाते हैं-उस विनय वान व्यक्ति के वैरी कोई भी नहीं होते ।

"नमस्ति सफला वृक्षाः नमस्ति कुलजा नराः ।
शुष्ककाशाश्च मूर्खाश्च न नमस्ति कदाचन"

अर्थात् - फलवान वृक्ष तथा गुणवान-कुलीन मनुष्य सदा नम्र होते हैं, किन्तु सूखे वृक्ष और मूर्ख मनुष्य नम्र नहीं हो सकते ।

उत्तम मार्दव
"ज्ञानलाभार्थमाचार विशुद्ध्यर्थ शिवार्थिभिः ।
आराधनादि ससिद्धे कार्य विनय भावनाम् ।।"

अर्थात् - आत्मकल्याण के इच्छुक मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार की शुद्धिके लिए तथा पूजा आराधना मन्त्रादि की सिद्धिके लिए विनय भावना व विनीत व्यवहार अवश्य करनी चाहिए ।

(सप्यग्दृष्टि आत्मा कभी दुरभिमान नहीं कर सकता । इसलिये हम इस मार्दव धर्म की आराधना अच्छी तरह से सोच-समजकर करें । अन्तःकरण से इसका मनन करें, चिंतन करें, और इसको धारणकर जितना विकसित कर सकें, अवश्य करें । ज्ञान, धनवैभव आदि का दुरभिमान न करें ।

यह मार्दव धर्म ही मनुष्य को ऊंचा उठाता है । हम देखते हैं कि जो नम्रता पूर्वक मान दंभ छोड़कर चलता है, दुनिया उन्हें अपने पलकों पर उठा लेती है ।

आज का दिन अत्यन्त पवित्र एवं महत्वपूर्ण है । जिससे हमारे अंदर मानवीयता का संस्कार इसी मार्दव धर्म से होने वाला है । अतः उत्तम मार्दव धर्म प्राप्त करने योग्य बनें । उसकी प्राप्ति में प्रयास करते रहें । इसी भावना के साथ ।

आजका उत्तम मार्दव धर्माराधना का जायमन्त्र इस प्रकार है -
ओं ही उत्तम मार्दव धर्माग्य नमः ।

दशलक्षण धर्म का तीसरा अंग है -

उत्तम आर्जव

मात्स्य कुडिल भावं णिमल हिदयेण चरदि जो समणो ।

अज्जव धम्मो तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ।। 73 ।।

(अणुवेक्खा)

जो श्रमण कुटिल भाव को त्याग कर निर्मल सरल हृदय से अचरण करता है, उसके नियम से आर्जव धर्म होता है । यह बात आचार्य कुंदकुंद जी ने अपने अणुवेक्खा ग्रन्थ में कहा है ।

अत्यन्त गूढ रीतिसे छुपाकर की गई कार्य कालान्तर में मनुष्योंको चंद्रग्रहण के समान ज्ञात हो ही जाता है । तब मायाचार करने से क्या लाभ ? इस प्रकार के चिंतन द्वारा माया को दूर करना चाहिए । अच्छी तरह से सैकड़ों छल-कपट करने पर भी पुण्य हीन के हाथ में पुण्य शाली व्यक्ति का धन नहीं आता ।

उत्तम क्षमा और मार्दव के बाद धर्म का तीसरा द्वार है उत्तम आर्जव । यह अर्जव धर्म का द्वार कुटिल भावों को त्यागने से खुल जाता है । "योगस्य अवक्रता आर्जवं" - मनोवाक्यायों द्वारा कुटिलाचार का न होना आर्जव कहलाता है । ऐसा श्री पूज्य पाद स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ टीका (सवार्थसिद्धि) में कहा है । "ऋजोर्भावो आर्जवं" - सीदा-सरल भाव ही आर्जव कहलाता है । विषय कषायों में उलझा हुआ उपयोग को वहां से हटाकर योग की ओर ले आना और फिर योगों की व्यर्थ प्रवृत्ति को रोककर दृष्टि को अपने में स्थिर करना, सीधे अपने से संपर्क करना, एक

उत्तम आर्जव

पर टिक जाना प्रकंपित न होना, चंचल न होना ही-ऋजुता है । यही आर्जव धर्म है । पानी रूका भी हो, स्वच्छ भी हो और तरंग रहित हो तो ही उसमें चेहरा देख सकते हैं । इसी प्रकार - मन, वचन और शरीर शुद्ध, स्थिर होनेके बाद मन के अन्दर राग-द्वेष की तरंगें न हों, तो ही आत्माका अपनास्वरूप देखने में आता है ।

यह आर्जव धर्म मन को सुमेरु-पर्वत की भांति अडिग, दृढ़, मजबूत बनाता है । उच्च मनोबल के बिना मायाचार से मुक्ति नहीं मिल सकती । "उन्नतं मानसं यस्य, भाग्यं तस्य समुन्नतं" - उन्नत मन वाले का भाग्य भी समुन्नत बनता है । "माया तैर्ययोनस्य" (तत्त्वार्थसूत्र) - माया चार से इस जीव को तिर्यच (पशु) योनि में जन्म लेना पड़ता है । तिर्यच गातिमें जानने का कारण विशेष रूप से माया कषाय ही है ।

थोड़ा सा विचार करे कि यह मायाचार कैसे आता है ? तो बात ऐसी है कि जिस प्रकार के जीवन को हम जीना चाहते हैं, या जिस जीवन से हम आदी बन चुके हैं उसी के अनुसार ही सब कुछ होता चला जाता है ।

इस आर्जव धर्म में प्रवेश करने हेतु मायाचार से मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है । आचार्य वादिराज ने "क्षत्रजुडामणि" ग्रन्थ में लिखा है कि - "संसार में रहे भी और यह कहे कि मैंने मयाचारी को त्याग दी है ।" ऐसा कथन भी एक मायाचारी है । "प्रत्येक क्षेत्र में संसार के सभी कार्यों में मायाचार पाया जाता है । कोई कार्य मायाचार से अछूता नहीं है । संसार की वृद्धि इसी माया कषाय से होती है । इस माया ने ही संसार का विस्तार किया है । इसलिए इस मायाचार से जितना बच सकते हैं उतना ही अच्छा है । इस के छद्म मायावी बहु रूपों को पहचानना बहुत कठिन है ।

